ISSN:2583-8849



फारूक आफरीदी

जयपुर, राजस्थान

# गिद्ध

हर आदमी सुकून के साथ जीना चाहता है लेकिन चाहने से क्या होता है। मेरे शहर ने कभी सुकून से नहीं रहने दिया इसलिए मैं इसे हादसों का शहर कहता हूँ। यहाँ हर सुबह अखबार ऐसी खबरें लेकर मेरी दहलीज पर आता है कि जीने की तमन्ना घटती जाती है। कहीं किसी के टूटने की ध्वनि सुनाई देती तो कहीं आग लगी है, कहीं किसी ने छलांग लगा ली, कहीं कोई बच्चा लापता है, कहीं कोई औरत हमेशा हमेशा के लिए चुप हो गई । शहर की धड़कन इन्हीं ख़बरों से मापी जाती है। जितनी तेज़ चीख, उतनी बड़ी सुर्ख़ी। हम समय से पहले पहुँच जाते हैं। दर्द से भी पहले। जब एम्बुलेंस रास्ता ढूँढ रही होती है, हम एंगल ढूँढ चुके होते हैं। जब किसी की साँसें गिनती में होती हैं, हम व्यूज़ गिन रहे होते हैं।

रेलवे लाइन के पास एक बस्ती है नवजीवन जहां जीवन एक उधार की चीज़ है। गर्मी में टीन की छतें जलती हैं, बारिश में रोती हैं। सुबह एक लड़की नहीं उठी। आठ साल की। स्कूल नहीं पहुँची। माँ ने पहले पड़ोस में ढूँढा। फिर नाले के पास। फिर अपनी स्मृति में। दोपहर तक हम वहाँ थे। कैमरा चालू हुआ। माइक आगे बढ़ा। “आप क्या कहना चाहेंगी?” माँ ने देखा—लेंस को, आदमी को, भीड़ को। फिर ज़मीन की ओर नज़रें गड़ा ली। उसकी यह चुप्पी असहज थी। हमें शोर चाहिए था। किसी ने सुझाव दिया—“पूछिए, आख़िरी बार कब देखा?” किसी ने कहा—“पड़ोसियों से झगड़ा तो नहीं?” किसी ने धीरे से जोड़ा—“यह तो इलाका ही ऐसा है।”

हम सब दर्ज करते गए। शाम तक लड़की का नाम हर चैनल पर था। चेहरा धुंधला, आवाज़ ऊँची। “ब्रेकिंग” चमक रहा था। लोग घरों में बैठे चाय पीते हुए अनुमान लगा रहे थे। दूसरे दिन कोई नई बात नहीं हुई तो हमने पुराने सवाल नए तरीके से पूछे। माँ अब रो रही थी। टीआरपी की दृष्टि से यह बेहतर फुटेज थी। पिता ने कहा—“बस मेरी बच्ची ढूँढ दो।” यह लाइन चल सकती थी परंतु इसमें दम नहीं था। तीसरे दिन पुलिस ने कहा—“जाँच जारी है।” चौथे दिन शहर को दूसरी कहानी मिल गई। नवजीवन बस्ती पीछे छूट गई। हफ्तों बाद, उसी लाइन के पास एक शरीर मिला। उम्र साफ़ नहीं थी। पहचान नहीं हुई थी। फिर भी हम दौड़े। कैमरा फिर चालू हुआ। इस बार नियम और औपचारिकता से चेहरे कपड़े से ढँके थे। किसी ने फुसफुसाया—“अगर वही हुई तो”वाक्य पूरा नहीं किया गया। ज़रूरत नहीं थी। पर वह वही नहीं थी। थोड़ी निराशा हुई। फिर राहत। फिर अगली खबर। समय बीतता गया। लड़की नहीं मिली। खोज धीरे-धीरे औपचारिक हो गई। पोस्टर उतर गए। आवाज़ें थक गईं। माँ चुप हो गई। चुप्पी सबसे कठिन होती है। चैनलों के लिए उसमें बेचने को कुछ नहीं था।

एक साल बाद, उसी बस्ती में एक कमरा खुला। दीवारों पर अक्षर थे। बच्चों की आवाज़ें थीं। किसी ने उस लड़की का नाम उस कमरे के बाहर लिख दिया। उद्घाटन नहीं हुआ और कोई रिबन कटा। कोई मंच नहीं। हम नहीं गए,क्योंकि वहाँ कुछ टूटा नहीं था। कुछ बन रहा था।कुछ महीने बाद, एक नया लड़का उस कमरे में पढ़ता दिखा। उसने पूछा—“अगर मैं बड़ा हो जाऊँ, तो क्या मुझे भी ऊपर से सब दिखेगा?” शिक्षक चुप रहे। शहर चलता रहा और हादसे बदस्तूर जारी रहे। हम पहुँचते रहे।कभी किसी की मौत पर क्लोज़-अप,कभी किसी की चीख पर स्लो-मोशन,कभी किसी के आँसू पर बैकग्राउंड म्यूज़िक चलता रहा। हम इसे पेशा कहते हैं।

ISSN:2583-8849

एक दिन किसी कार्यक्रम में कहा गया—"आप लोग समाज की आँख हैं।" खूब तालियाँ बजीं। मैंने सोचा—आँख अगर लगातार सिर्फ़ गिरते हुए देखे, तो उसे उठता हुआ दिखना अजीब लगता है। उस शाम, रेलवे लाइन के पास वही कमरा बंद था। दीवार पर लिखा नाम धूप में फीका पड़ गया था। माँ वहाँ नहीं थी। शायद कहीं और चुप बैठी थी। दूर कहीं ऊपर कुछ परछाइयाँ गोल-गोल घूम रही थीं। उन्हें नीचे की हलचल दिख रही थी। वे धैर्य से इंतज़ार कर रही थीं। उन्हें पता था—कुछ न कुछ गिरेगा। कुछ न कुछ टूटेगा और तब उन्हें बुलाया जाएगा। हम भी जानते हैं।

सुबह चाय की भाप में घुली हेडलाइनों की कड़वाहट और कॉलोनियों की गलियों में घूमती अफ़वाहों की खड़खड़ाहट—यही हमारी दिनचर्या है। हम हर सुबह अपने पंख खोलते और देखते हैं कि आज किसके आँगन में दुःख का कौन सा टुकड़ा गिरा है । हम उसे उठाते हैं, चोंच से परखते हैं और फिर कॉलमों में, स्क्रीन पर, बातचीत में बाँट देते हैं। हम कहते हैं, "देखो, कितना सच है।" उसके भीतर से कहीं चमड़ी और अंतड़ियाँ नोचने वाले जीव की आवाज़ आती है। उस दिन भी कुछ ऐसा ही हुआ। शहर के पुराने पुल के नीचे एक छोटी-सी बस्ती है—टीन की छतें, ईंटों पर चूना और सपनों पर जमी धूल। सुबह-सुबह ख़बर उड़ी कि वहाँ की एक आठ साल की बच्ची गायब है। नाम था—नूरी। माँ की आँखों में रात की थकान और पिता की हथेलियों में मज़दूरी की रगड़ साफ दिखाई पड़ रही थी। हमने कैमरे उठाए, माइक्रोफ़ोन चमकाए और सवालों की बौछार शुरू कर दी—"कैसा लग रहा है?" कैसा लगता है, जब धरती पैरों के नीचे से खिसक जाती है कमबख्तो ?

नूरी की माँ ने कुछ नहीं कहा। उसने बस अपनी ओढ़नी कसकर बाँधी जैसे शब्दों को बाँध रही हो। पिता ने आँखें झुका लीं। हम उन्हें घूरते रहे,जैसे उनकी चुप्पी में कोई मसाला खोज रहे हों। किसी ने कहा—"शायद घर से भागी हो।" कोई फुसफुसाया—"बस्ती का माहौल ही" हमने सब दर्ज किया। दर्ज करना हमारा धर्म था।दिन बीतते गए। पुलिस आई और रीत निभाकर चली गई। कस्बे में पोस्टर लगे। हमारी गाड़ियाँ फिर से आईं, फिर से गईं। हर बार नई हेडलाइन—"अब तक सुराग नहीं।" धीरे-धीरे नूरी की तस्वीर धुंधली होने लगी। शहर में नई ख़बरें थीं—नई दुर्घटनाएँ, नए आरोप, नई चीखें। हम उधर मुड़ गए। गिद्ध का पेट भर गया था।

एक शाम, पुल के नीचे की बस्ती में एक बूढ़ा मिला—रहमान चाचा। उसकी आँखों में अजीब-सी चमक थी, जैसे वह बहुत कुछ देख चुका हो और फिर भी देखना चाहता हो। उसने कहा—"तुम लोग लिखते हो, दिखाते हो। कभी सुनते भी हो?" हम मुस्कुराए—"कहिए।" उसने पुल की ओर इशारा किया—"यह पुल शहर को जोड़ता है। नीचे हम रहते हैं। ऊपर से लोग रोजाना गुज़रते हैं। किसी ने कभी नीचे झाँका?" हम चुप रहे। उसने आगे कहा—"नूरी ऊपर नहीं गई थी। वह नीचे ही है—हम सबके बीच, हमारी नज़र में।" उस रात मैं सो नहीं पाया। खिड़की से बाहर देखा—शहर की बत्तियाँ टिमटिमा रही थीं, जैसे आँखें झपझपा रही हों। मैंने अपने भीतर झाँका—क्या मैं सुनता हूँ? या सिर्फ़ चुनता हूँ—वह आवाज़ जो बिक सके? कुछ दिन बाद, बस्ती में एक छोटा-सा कार्यक्रम हुआ। लोग इकट्ठा हुए। नूरी की माँ ने पहली बार बोला। उसकी आवाज़ काँप रही थी पर शब्द साफ़ थे—"मेरी बेटी लौटे या न लौटे पर उसे खोजने की उम्मीद नहीं छोड़ूंगी। अगर नहीं मिले तो किसी और नूरी को नहीं खोने दूँगी°" कैमरे शांत थे। किसी ने लाइव नहीं किया। उस दिन शायद हमारी चोंच बंद थी।

शहर की मशीनें जल्दी रुकती नहीं। एक और ख़बर आई—पुल के पास एक लाश मिली। हम दौड़े। सायरन, टेप, भीड़। किसी ने कहा—"शायद वही" दिल धक से गिरा परन्तु पहचान नहीं हुई। मामला ठंडा पड़ गया। और हम—हम फिर आगे बढ़ गए। समय की नदी बहती रही। एक साल बाद, उसी बस्ती में स्कूल खुला—एक कमरे का नाम रखा गया—"नूरी शिक्षा केंद्र।" किसी मंत्री ने उद्घाटन नहीं किया। बस रहमान चाचा ने तख्ती टाँगी और बच्चों ने चॉक से दीवार पर अक्षर लिखे। मैंने खबर बनाई—छोटी-

ISSN:2583-8849

सी, बिना तस्वीर के। एडिटर ने कहा—"रख लो, जगह बची है।" मैंने रख दी। शायद पहली बार मैंने जगह नहीं, मन देखा।

स्कूल में एक बच्चा था—आदिल। वह हर सवाल के बाद पूछता—"क्यों?" शिक्षक हँसते—"क्यों नहीं?" आदिल कहता—"अगर हम पढ़ेंगे, तो क्या हमें भी ऊपर से नीचे झाँकने का हक़ मिलेगा?" किसी ने जवाब नहीं दिया। पर उस सवाल ने मुझे काट लिया। इसलिए कि हम गिद्ध हैं—पर क्या हम हमेशा रहेंगे? गिद्ध का पेट भूख से चलता है पर उसका मन आसमान से। हम कहाँ उड़ते हैं? हमारी उड़ान स्क्रीन तक सीमित है। हम ऊँचाई से देखते हैं पर दूरी बनाए रखते हैं। दूरी हमें सुरक्षित रखती है। संवेदना हमें असुरक्षित करती है।

एक दिन, शहर में बड़ा आयोजन था। मंच, रोशनी, भाषण का तामझाम था। किसी ने कहा—"मीडिया समाज का आईना है।" प्रशंसा में फूले न समाए । मैं सोच रहा था—आईना वही दिखाता है, जो सामने खड़ा हो। हमने किसे सामने खड़ा किया है? और किसे पीछे छोड़ दिया है? कार्यक्रम के बाद, एक युवा पत्रकार मेरे पास आया। बोला—"सर, मैं स्टोरी करना चाहता हूँ—नूरी पर।" मैंने कहा—"अब?" वह बोला—"हाँ अब।" उसकी आँखों में आग नहीं, धैर्य था। मैंने उसे बस्ती में भेजा। वह हफ्तों रहा। उसने रहमान चाचा की बातें सुनीं, माँ की चुप्पी समझी, बच्चों की हँसी दर्ज की। उसने लिखा—गायब होने की कहानी नहीं, रहने की कहानी। स्कूल की, पुल की, शहर की आँखों की। वह कहानी छपी। बिना चीख, बिना सनसनी। प्रतिक्रिया धीमी किन्तु गहरी थी। कुछ लोगों ने लिखा—"पहली बार लगा कि हम भी वहाँ थे।" कुछ ने पूछा—"हम क्या कर सकते हैं?" यह सवाल कोई गिद्ध नहीं इंसान पूछता है। सच कहूँ तो, अगले दिन फिर एक बड़ी ख़बर आई और हम उधर दौड़ पड़े लेकिन कहीं भीतर एक काँटा फंसा रह गया। हर बार जब कैमरा उठता, वह चुभता—"क्या यह ज़रूरी है?" हर बार जब हेडलाइन बनती, वह पूछता—"किसके लिए?"

बरसों बाद, नूरी की माँ बूढ़ी हो गई। स्कूल बड़ा हो गया। पुल वही रहा। शहर भी फैल गया पर कुछ बच्चों ने ऊपर झाँकना और कुछ ऊपर वालों ने नीचे देखना सीख लिया । शायद यही परिवर्तन है—धीमा, असुविधाजनक, पर सच्चा।

एक शाम, रहमान चाचा नहीं रहे। बस्ती में शोक था। हम पहुँचे। किसी ने कहा—"लाइव?" मैंने सिर हिलाया—"नहीं।" हम चुपचाप खड़े रहे। हवा में धूप की गंध थी। किसी ने गिद्ध उड़ते देखे—दूर, आसमान में। वे गोल चक्कर लगा रहे थे। उनका काम चलता रहेगा। पर हमारा? घर लौटते वक्त, मैंने अख़बार मोड़ा। पहले पन्ने पर बड़ी ख़बर थी। अंदर कहीं छोटी-सी खबर—"नूरी शिक्षा केंद्र के बच्चों ने विज्ञान मेले में पुरस्कार जीता।" मैं मुस्कुराया। शायद यही जवाब है। हम गिद्ध हैं—यह स्वीकारना शुरुआत है। अंत नहीं। अगर हम उड़ते हैं, तो दिशा चुन सकते हैं।

यह शहर स्त्रियों से भरा है, पर उनके लिए सुरक्षित नहीं। यहाँ हर रात किसी न किसी को जल्दी घर पहुँचने की हड़बड़ी होती है और हर सुबह किसी न किसी की आँखों में अधूरी नींद होती है। शोषण यहाँ कोई अचानक घटने वाली घटना नहीं, बल्कि एक सुनियोजित व्यवस्था है—इतनी चुपचाप चलने वाली कि जब तक उसका शोर सुनाई देता है, तब तक बहुत देर हो चुकी होती है।पहली घटना साधारण बताई गई। एक महिला—नाइट शिफ़्ट से लौटते समय "असामान्य परिस्थिति" में मिली। यह वाक्य इतना लचीला था कि इसमें सच भी समा गया और झूठ भी । चेहरा नहीं दिखाया गया, नाम आधा रखा गया और कहानी को "सावधानी" के नाम पर समेट दिया गया। हम सबने राहत की साँस ली क्योंकि डर को पूरी तरह देखना असुविधाजनक होता है। फिर दूसरी घटना हुई। फिर तीसरी। अलग-अलग इलाक़े, अलग-अलग पृष्ठभूमियाँ, पर एक जैसी खामोशी सब में थी। हर बार प्रशासन की वही भाषा, वही आश्वासन, वही सहायता का अभिनय। हर बार हमारी वही उपस्थिति—सही एंगल, सही शब्द, सही दूरी। दूरी बहुत ज़रूरी होती है। दूरी न हो तो अपराध का भार भीतर उतरने लगता है।

धीरे-धीरे यह स्पष्ट होने लगा कि यह घटनाएँ नहीं हैं, एक पैटर्न है। रात, अकेलापन, पहचान का अभाव और उसके बाद एक ऐसा मौन जो पीड़िता को निगल जाता है। कुछ महिलाएँ अस्पताल से लौटकर बोलना चाहती थीं, पर उनकी आवाज़ें फ़ाइलों में दब गईं। कुछ ने शिकायत दर्ज कराई, पर वह काग़ज़ों से बाहर नहीं आई। कुछ ने चुप रहना चुना क्योंकि शहर में बोलने की कीमत बहुत ज़्यादा चुकानी पड़ती है। हम इस चुप्पी के बीच खड़े रहे। हमने इसे "जाँच की जटिलता" और "कानूनी प्रक्रिया" कहा। हमने इसे "समाज की संवेदनशीलता" कहा। दरअसल, हमने इसे अपनी सुविधा कहा। एक महिला थी,जिसने चुप्पी नहीं चुनी। वह टूटी हुई नहीं थी। उसकी आँखों में डर से ज़्यादा लड़ते-लड़ते थक जाने की थकान थी। उसने संकेतों में बताया कि यह हमला अकेले लोगों का काम नहीं था। इसमें रास्ते जानने वाले थे, समय तय करने वाले और बाद में सब कुछ "साफ़" करने वाले भी थे। यह बात खतरनाक थी क्योंकि यह अपराध से आगे जाकर व्यवस्था की ओर इशारा कर रही थी।यह हिस्सा ख़बर नहीं बना।

कुछ दिनों बाद वह महिला गायब हो गई। कोई औपचारिक सूचना नहीं, कोई बड़ी खोज नहीं हुई। बस एक फ़ाइल, जिस पर लिखा गया—"पता नहीं चल पाया।" शहर को एक और कहानी मिल गई और हमने उधर रुख़ कर लिया। गायब हो जाना यहाँ मरने से ज़्यादा आसान है। पर सच अक्सर उन दरारों में बचा रहता है जहाँ सब कुछ साफ़ नहीं किया जा सकता। पुराने फुटेज, कटे हुए वाक्य, अचानक बंद हुए कैमरे और कुछ नाम जो बार-बार अलग-अलग संदर्भों में उभरते रहे। धीरे-धीरे यह साफ़ हुआ कि यह सिर्फ़ हिंसा नहीं थी बल्कि उपभोग था। स्त्री की देह का, उसकी चुप्पी का और फिर उसकी कहानी का।कुछ लोग रात में अपराध करते थे ।कुछ लोग सुबह उसे बेचते थे। दोनों एक-दूसरे के बिना अधूरे थे।जब यह समझ सामने आई, तो वह किसी एक चेहरे का सच नहीं था। वह कई चेहरों की परछाईं थी—सुरक्षा के नाम पर खड़े लोग, सुविधा के बदले चुप रहने वाले अधिकारी और वह वर्ग जो घटना के बाद सबसे पहले पहुँचता है, ताकि दर्द ठंडा होने से पहले उसे इस्तेमाल किया जा सके। तब एहसास हुआ कि सबसे भयावह शिकारी वे नहीं होते जो अँधेरे में हमला करते हैं बल्कि वे होते हैं जो उजाले में खड़े होकर इंतज़ार करते हैं—कब कुछ गिरे, कब कुछ टूटे, कब कोई आवाज़ उठे ताकि वे उसे उठा सकें।शहर अब भी चलता है। सड़कों पर वही भीड़, वही रोशनी, वही हड़बड़ी। महिलाएँ अब भी निकलती हैं—कुछ डर को आदत बना चुकी हैं, कुछ उम्मीद को। कहीं-कहीं दीवारों पर पोस्टर हैं, जिन पर चेहरे नहीं, सिर्फ़ चेतावनियाँ हैं।

हम? हम अब भी तैयार हैं। हम अब भी सबसे पहले पहुँचते हैं। हम अब भी कहते हैं कि हम सच दिखा रहे हैं। पर सच यह है कि हम सिर्फ़ तब आते हैं जब सब हो चुका होता है। हम सिर्फ़ वही उठाते हैं, जो गिर चुका होता है और फिर ऊँचाई से बैठकर तय करते हैं कि कौन-सा दर्द दिखाने लायक़ है। हम इंसान जैसे दिखते हैं। हम उस भाषा में बोलते हैं, नियम जानते हैं, नैतिकता की बातें करते हैं पर हमारी उड़ान हमेशा टूटन के ऊपर ही होती है। हम गिद्ध हैं।